आज के छात्र और शिक्षक

❑ सुरेश पंडित

भूमण्डलीकरण और मीडिया के व्यापक संचार उपक्रम ने सांस्कृतिक संघात की स्थिति उत्पन्न की है । दूसरी ओर बाजार के वर्चस्व और उपभोक्तावाद के बोलवाले ने पूर्व-प्रचलित आर्थिक समीकरणों को बदल दिया है। शिक्षा के पारंपरिक पाठ्यक्रम अब व्यक्ति विकास के पहले जैसे अवसरों का सृजन नहीं करते । इस संक्रमण से शिक्षक की हैसियत में क्या परिवर्तन आया है और कौन-सी चुनौतियां उसके सामने हैं, इन पहलुओं पर यहां विचार किया जा रहा है ।

1990 के बाद, जब से इस देश में भूमण्डलीकरण की गति ने तेजी पकड़ी है, परंपरागत विचारों, सिद्धांतों , धारणाओं पर प्रश्न चिन्ह लगने लगे हैं । प्रबुद्ध लोग इनका आलोचनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करने लगे हैं। इस उत्तर आधुनिक सोच ने इस तथ्य पर शंका प्रकट करनी शुरू कर दी है कि शिक्षा समाज परिवर्तन या राष्ट्र विकास का सर्वाधिक सशक्त औजार होती है। उन्हें यह प्रतीत होने लगा है कि समाज में अगर कहीं कुछ बदलाव आ रहा है, तो वह बाजारावादी विचारधारा के संवाहक मीडिया के जरिये आ रहा है और किसी के जरिये नहीं । ऐसी स्थिति में जाहिर है शिक्षा को वह महत्व नहीं मिल सकता जो पहले कभी मिला करता था । शिक्षक की भूमिका भी अब वह नहीं रही जो पहले हुआ करती थी। तो क्या जैसे जैसे बाजारवाद से पैदा एवं पालित-पोषित उपभोक्ता संस्कृति का विकास होगा, मीडिया का प्रसार लोकव्यापी होगा, वैसे वैसे शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति विकासवादी नहीं रहेगा बल्कि बाजार के लिए आवश्यक उपभोक्ता तैयार करने का रह जायेगा ? और शिक्षक की भूमिका महत्वहीन होती चली जायेगी ? या उसे अपना 'रोल' बदलना पड़ेगा ? तेजी से बदल रही स्थितियों के बावजूद लगता नहीं कि शिक्षक इतना महत्वहीन हो जायेगा कि समाज उसको पूरी तरह से उपेक्षणीय करार दे दे । यह सच हो सकता है कि क्रान्तिकारी परिवर्तन या हस्तक्षेप की इसकी क्षमता कमतर हो जाये, लेकिन संस्कृतियों को जानने, परम्परागत ज्ञान और कौशल को संतरित रखने के लिये तो इसकी आवश्यकता बनी ही रहेगी ।

सचाई यह भी है कि भूमंडलीकरण से पहले के तीन-चार दशकों में भी शिक्षण को समाज ने विशेष महत्व नहीं दे रखा था। इसके लिए दो कारण दिये जा सकते हैं - एक, हमारा समाज दिन प्रतिदिन ठोस व्यावहारिक/यथार्थवादी बन रहा था। आर्थिक समृद्धि पाने की ओर उन्मुख हो रहा था। परिणाम स्वरूप सांस्कृतिक क्षेत्रों में उसकी प्रगति पिछड़ रही थी । लोग यह मानने लगे थे कि जब तक देश की अर्थव्यवस्था प्रगति करती जायेगी या वृद्धि दर बढ़ती जायेगी, यह माना जायेगा कि देश विकास की ओर अग्रसर हो रहा है । आर्थिक समृद्धि के लक्ष्यों के सामने दूसरे सवालों को - जैसे बच्चे स्कूल में संस्कृति की कैसी शिक्षा पा रहे हैं या अध्यापक बच्चों के मानस को संवेदनशील बनाने के योग्य हैं या नहीं ? -पूरी गंभीरता और ईमानदारी के साथ नहीं पूछा जा रहा था। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि समाज प्रतिदिन लोगों के सामने तरह तरह से यह बात रख रहा था कि उसे जितनी अपने विकास के लिए इंजिनियरों, प्रबन्धकों या अर्थशास्त्रियों की जरूरत है उतनी संस्कृतिकर्मी, साहित्यकारों अथवा शिक्षकों की नहीं है । इसलिए यह बात असंभव नहीं है कि हमारे समाज में आर्थिक प्रगति और सांस्कृतिक संवेदनशीलता के बीच इतना भारी अन्तर हो गया है । समाज का एक तबका समृद्ध होता चला गया है और उसकी नैतिकता, सिद्धांत और उच्चतर मूल्य लुप्त होते गए हैं ।

जहां तक दूसरे कारण की बात है, शिक्षा के क्षेत्र में हो रहे ह्रास से शिक्षित समाज का आत्मविश्वास नष्ट हो रहा है, वह अपने लक्ष्य को भूलता जा रहा है । इसके अलावा जिस तरह के समाज में हम रह रहे हैं उसमें दिन-प्रतिदिन डिग्रियों का महत्व घटता जा रहा है। परिणाम स्वरूप क्लास रूम और वास्तविक दुनिया के बीच की दूरी बढ़ती जा रही है । इस दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली ने ही वास्तविक ज्ञान-कौशल प्राप्त करने के बजाय छात्रों को कुंजियों

को पढ़ने और नकल करने की आदतें डाली हैं । वास्तव में शिक्षण को एक मूल्यवान व्यवसाय बनाने की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया है ।

सचाई यह है कि मौजूदा सामाजिक संरचना से कोई भी शिक्षक अप्रभावित नहीं रह सकता । छात्रों के साथ अन्तर्क्रिया करते हुए हर समय वह यह परखता रहता है कि उसे विस्तृत समाज द्वारा किस रूप में देखा जा रहा है। अपवादों को एक तरफ रखकर यदि निरपेक्ष दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञात होता है कि विद्यार्थी अधिकतर शिक्षकों को एक असफलता के प्रतीक के रूप में देखते हैं । इसका कारण समाज का उन्हें यह बताना है कि उनके मास्टर जी एक ऐसे काम में लगे हैं जिससे न पैसा मिलता है और न शक्ति। कोई भी स्वेच्छा से इस व्यवसाय को नहीं चुनता। वह मजबूरन यह काम करता है क्योंकि इससे बेहतर काम पाने में वह नाकामयाब रहता है। वह अपनी कक्षा में एक भी विद्यार्थी ऐसा नहीं पाता जो शिक्षक बनना चाहता हो । छात्रों की यह अनिच्छा इस बात का प्रमाण है कि वे शिक्षण व्यवसाय को उचित सम्मान नहीं देते । यह मनोवृत्ति अधिकतर शिक्षकों के आत्मविश्वास को क्षति पहुंचाती है। शिक्षक की अधिकतर क्रियाओं का केन्द्र छात्रों की दुनिया ही रहती है । उन्हीं को वह प्राय: संबोधित करता रहता है और जब वह उनकी आंखों में अपने पेशे के प्रति घोर उपेक्षा का भाव देखता है तो उसका सारा उत्साह मर जाता है।

सचाई यह है कि मौजूदा सामाजिक संरचना से कोई भी शिक्षक अप्रभावित नहीं रह सकता। छात्रों के साथ अन्तर्क्रिया करते हुए हर समय वह यह परखता रहता है कि उसे विस्तृत समाज द्वारा किस रूप में देखा जा रहा है। अपवादों को एक तरफ रखकर यदि निरपेक्ष दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञात होता है कि विद्यार्थी अधिकतर शिक्षकों को एक असफलता के प्रतीक के रूप में देखते हैं । इसका कारण समाज का उन्हें यह बताना है कि उनके मास्टर जी एक ऐसे काम में लगे हैं जिससे न पैसा मिलता है और न शक्ति।

शिक्षक व छात्र के बीच के रिश्ते को एक दूसरे नजरिये से भी देखना व्यावहारिक हो सकता है। वह नजरिया वर्ग भेद का है। कल्पना कीजिये एक प्रतिष्ठित पब्लिक स्कूल या उच्चे कोटि के महा/विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले छात्रों और पढ़ाने वाले शिक्षक के बीच होने वाली उस मुठभेड़ की जिसे दोनों की असमान आर्थिक स्थितियां अनिवार्यत: पैदा करती हैं । दोनों के बीच की परम्पराएं, आस्थाएं और वैश्विक दृष्टिकोण उस मुठभेड़ को अधिक तीव्रता देते हैं । कई मौके आते हैं जब वे शिक्षक अपने ही छात्रों की भाषा को नही समझ पाते, उनके संगीत और फिल्मों की पसंद को, उनके हास-परिहास को और उनके अंग्रेजी बोलने की स्टाइल को सराह नहीं पाते । इसी तरह छात्र भी अपने शिक्षकों की मध्यमवर्गीय भावनाओं की कद्र नहीं कर पाते । उनकी बोलचाल के ढंग, उनके विश्वास, उनकी नैतिकता, उनकी वेशभूषा, शास्त्रीय संगीत की उनकी पसंद, पुरातन प्रेम निवेदन और भावुकता छात्रों को रास नहीं आते। शिक्षक-छात्र के बीच का यह वर्ग-भेद भी शिक्षण व्यवसाय की गरिमा को और ठेस पहुंचाता है।

फिर भी कोई समाज बिना शिक्षा के तो जीवित नहीं रह सकता । भौतिक उत्पादन में लगे इंजीनियरों, मैनेजरों और प्रशासकों को भी अर्थशास्त्र, प्रबंधन और व्यावहारिक ज्ञान की बुनियादी बातों को तो जानना ही होता है। तात्पर्य यह कि ऐसे में शिक्षा तभी सार्थक होती है जब इसे भौतिक उत्पादन से जोड़ा जाता है। उस स्थिति में शिक्षा कोई लक्ष्य नहीं रहती । बल्कि साधन बन जाती है और इसका उद्देश्य छात्र को उस उत्पादन की राह की ओर ले जाने का होता है। इस दृष्टिकोण के दो परिणाम होते हैं जिन्हें शिक्षकों की नियति को जानने/समझने के लिए फिर से जांच/परख लेना जरूरी है ।

पहली बात यह कि इस तरह की शिक्षा समाज को निर्ममतापूर्वक श्रेणियों में बांटती है । ऐसा माना जाता है कि वे संस्थान जो भौतिक क्षेत्र से अधिक निकट संबंध रखते हैं -'सफलता' प्रदान करने में अचूक होते हैं । इसलिए उच्च स्तरीय पब्लिक स्कूलों को भारतीय प्रोद्योगिकी या प्रबंधन संस्थाओं से जोड़कर देखा जाता है । किसी पब्लिक स्कूल के अधिक छात्रों को उच्च तकनीकी या व्यावसायिक संस्थानों में प्रवेश मिल जाना, उसे अन्य स्कूलों से अधिक श्रेष्ठ बना देता है; जबकि वे स्कूल जो बेहतर शिक्षाविद्, कवि, दार्शनिक वैज्ञानिक और अर्थशास्त्री बनाने में अपना योगदान देते हैं उनके मुकाबले में घटिया साबित कर दिये जाते हैं । यद्यपि ये लोग भी बौद्धिक खाद्य सामग्री तो देते हैं, दुनिया को अधिक मानवीय, सांस्कृतिक रूप से अधिक संवेदनशील भी बनाते हैं । परन्तु कुलीनतावादी संस्थाओं और उनके साथ जोड़ दी गई सफलता की कहानियों को जो सराहना समाज देता है वह इन्हें नहीं मिलती । ऐसी स्थिति में आम लोगों की चयनेच्छा उन्हें किधर ले जाती है यह बताने की जरूरत नहीं है । यदि आप किसी अभिभावक से पूछें कि किसी प्रतिष्ठित पब्लिक स्कूल में अपने बच्चे को प्रवेश दिलाने

के लिये वह इतना क्यों उत्सुक है तो निश्चय ही वह ऐसा बच्चे की सफलता के लिए करने की बात दुहरायेगा । भौतिक समृद्धि के लिए अच्छी नौकरी या व्यवसाय पा लेना उसकी दृष्टि में सफलता का सर्वश्रेष्ठ पैमाना है।

दूसरी बात, यह मनोवृत्ति एक दूसरे विनाशकारी परिणाम की ओर ले जाती है । शिक्षकों को अब अधिकतर ऐसे कार्यकर्ता या तकनीकज्ञ के रूप में देखा जाने लगा है जो छात्र की सफलता के लिये आवश्यक कौशल देने में सक्षम होता है । वह कौशल गणित, अंग्रेजी, वार्तालाप या घुड़सवारी में से किसी भी तरह का हो सकता है। एक योग्य शिक्षक आजकल उसे माना जाता है जो समय पर पाठ्यक्रम पूरा करवा देता है, छात्र को बुनियादी कौशल देकर उसकी सफलता सुनिश्चित कर देता है। इस प्रकार शिक्षक का जो वास्तविक स्वरूप है उसका आजीवन अभ्यास, छात्रों से उसका सौहार्द्रपूर्ण रिश्ता और मानवता के प्रति उसकी प्रतिबद्धता जैसे गुणों को अब धीरे धीरे भुलाया जा रहा है, महत्वहीन बनाया जा रहा है।

शिक्षक समुदाय की इस उपेक्षित, सिकुड़ती हुई भूमिका के पीछे एक और बड़ा महत्वपूर्ण कारण है, हमारे समय में ज्ञान के चरित्र का तेजी से बदल जाना, खास तौर पर संकुचित, विशिष्ट या खंडित अनुशासनों में विभाजित हो जाना । परिणाम यह हुआ है कि अब एक भौतिकीविद् को आधुनिक विज्ञान के समाजशास्त्रीय निहितार्थों की जानकारी न होने पर भी शर्मिंदा होने की आवश्यकता नहीं रह गई है । इसी तरह समाज शास्त्र का एक प्रोफेसर, जिस तरह की शिक्षा पाकर उस पद पर पहुंचा है, इस जानकारी से अनभिज्ञ होने पर कि संगीत, कविता अथवा साहित्य के माध्यम से भी दुनिया को देखा, परखा व समझा जा सकता है, इस पर किंचित् मात्र भी पुनर्विचार करने की आवश्यकता महसूस नहीं करता । कहने का मतलब यह कि शिक्षक अब जिस अनुशासन में विशेषज्ञ होता है, उसकी भी सर्वांगीण जानकारी नहीं रखता । इसलिये वह अपने विद्यार्थियों को भी आधी-अधूरी जानकारी देता है ।

सवाल यह भी है कि वर्तमान बदले हुए परिदृश्य के प्रति शिक्षक स्वयं क्या प्रतिक्रिया करते हैं ? शायद उनमें से अधिकतर इस स्थिति का औचित्य बताते हुए इसके लिए काम के बढ़ते व्यवसायीकरण को जिम्मेदार बता सकते हैं । व्यवसायीकरण ने वास्तव में कुछ सकारात्मक लाभ भी पहुचांये । जैसे शिक्षकों में अपने अधिकारों के प्रति जानकारी बढ़ी है, उनकी परिभाषित भूमिकाओं तथा सेवा शर्तों के बारे में वे जागरूक हुए हैं । लेकिन यह बात माननी ही होगी कि इस व्यावसायीकरण ने मानवीय संभावनाओं को सीमित भी कर डाला है। यह किसी व्यक्ति से उसके लिये निर्धारित भूमिका के निर्वाह से अधिक अथवा अन्य कार्यों की अपेक्षा नहीं कर सकता । अत्यधिक व्यवसायीकरण से दक्षता बेशक बढ़ जाय, दूसरे गुणों की उपेक्षा होती है ।

इसका एक परिणाम यह भी होता है कि विद्यार्थी भी शिक्षक से उसी सीमित भूमिका की अपेक्षा करने लगते हैं । वे भी बाजार की मांग के अनुसार जल्दी से जल्दी किसी क्षेत्र में निपुणता चाहने लगते हैं । वे शिक्षक से काम की अर्थात् परीक्षोपयोगी बातों के अलावा कुछ भी सुनना-सीखना नहीं चाहते । जब वे विज्ञान पढ़ रहे होते हैं तो शिक्षक से यह अपेक्षा नहीं करते कि वह उन्हें भूमंडलीकरण के गुण-दोषों से अवगत करवाये । बल्कि सचाई तो यह है कि वे अपने विषय की भी विस्तृत व गंभीर जानकारी नहीं चाहते । उन्हें चाहिये सफलता, वह यदि शिक्षक की बजाय पासबुक या कुंजी से आसानी से मिल सकती है तो उन्हें शिक्षक को भी दर किनार करने में संकोच नही होता ।

शिक्षक की दुनिया उसके छात्रों तक सीमित रहती है परन्तु संकट यह है कि अधिकतर शिक्षक इस दुनिया में भली-भाति प्रवेश नहीं कर पाते अर्थात् वे अपने विद्यार्थियों के मनोभावों को पढ़ ही नहीं पाते । उनका विकृत संप्रेषण भी एक कारण है जिससे शिक्षण की प्रभावशीलता कम होती चली जाती है । सार्थक संप्रेषण शिक्षक-छात्र के बीच एक उपयुक्त समानता और पारस्परिक सम्मान की मांग करता है जबकि अधिकतर शिक्षक छात्र को यह बराबरी का रूतबा नहीं देना चाहते । वास्तव में उनके परम्परागत संस्कार और अनुशासन की रूढ़ परिभाषाएं उन्हें यह नहीं करने देतीं । वे सोचते हैं कि छात्रों को बराबर का दर्जा देने पर तो उनका अस्तित्व और शिक्षा का ढांचा ही चरमरा जायेगा । इस बराबरी का असल में मतलब यह नहीं है कि शिक्षक और शिष्य के बीच कोई भेद रहे ही नहीं । अपनी आयु, योग्यता, अनुभव तथा अधिक विचारवत्ता के कारण शिक्षक की स्थिति तो छात्रों को पढ़ाने, सलाह देने व मार्ग दिखलाने की रहती ही है । इसलिये यहां समानता से तात्पर्य परस्पर सम्मान तथा उदारता से है। शिक्षक के लिये जरूरी है कि वह छात्र में एक संभावना को देखे, उसके दिमाग की ताजगी का आदर करे । इसके लिये उसे छात्रों के मनोविज्ञान को समझने और तदनुरूप स्वयं को ढालने की आवश्यकता होती है ।

लेकिन यह सब इतना आसान नहीं होगा । कम से कम 40 से लेकर 60-70 तक छात्रों वाली कक्षा में 30-40 मिनट के कालांश में इस तरह का संप्रेषण संभव नही होता । परिणाम यह होता है कि जहां शिक्षक के लिए छात्र केवल चेहरे रहित स्कॉलर नंबर बनकर रह जाते हैं, वहीं छात्रों के लिए शिक्षक एक व्याख्यानदाता मशीन मात्र । प्रचलित शिक्षा पद्धति में इस तरह के संप्रेषण के लिए कोई स्थान ही नहीं होता जिसमें सीखना एक क्रियाशील, संभागितापूर्ण और रचनात्मक गतिविधि बन जाय । होता यह है कि शिक्षक छात्रों के दिमाग को निशाना बनाकर हर तरह के तथ्यों, आंकड़ों, सिद्धान्तों

व सूचनाओं की गोलाबारी करता है इससे शिष्य स्वभावत: ज्ञान के निष्क्रिय ग्राहक मात्र बनकर रह जाते हैं । इसके अलावा परीक्षा का अस्तित्व भी शिक्षक और छात्रों के पारस्परिक संबंधों को प्रभावित करता है। परीक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो शिक्षक को अपने छात्रों का उपयोग वस्तु के रूप में करने की शक्ति प्रदान करती है । परीक्षा के स्तर को बनाये रखने और छात्रों को सफलता दिलाने के नाम पर उनकी स्वायत्तता, निजता और व्यक्ति सापेक्षता का हनन होता है । परीक्षा, मूल्यांकन और श्रेणीकरण वे वास्तविक बाधाएं हैं जो शिक्षक और छात्र के बीच वार्तालाप के संबंधों को पनपने ही नहीं देती ।

शिक्षक के प्रति सम्मान तभी पैदा हो सकता है जब छात्र उसे अपना मित्र, दार्शनिक व पथ-प्रदर्शक मानें । लेकिन जब शिक्षक कठोर, अनुशासनप्रिय होता है तो वे उससे या तो डरते हैं या उससे नफरत करते हैं । लोगों की दृष्टि में इस तरह की कठोरता-अनुशासनप्रियता प्रशंसा की पात्र हो सकती है, लेकिन शिक्षण प्रक्रिया में इसकी भूमिका अधिक लाभदायक नहीं होती । वर्तम ान शिक्षण पद्धति में परीक्षा से छुटकारा नहीं पाया जा सकता । परीक्षोन्मुखी यह शिक्षा पद्धति शिक्षकों को सफलता दिलाने वाले के रूप में स्थापित करती है । जो छात्र इसके सम्मुख समर्पण कर देते हैं उन्हें आदर्श माना जाता है । अपना विवेक अलग रख, शिक्षक की बात को आंख मूंद स्वीकारना गुण माना जाता है। ऐसी स्थिति में कक्षा-कक्ष के लोकतंत्रीकरण की बात सोचना तक बहुत मुश्किल है ।

दो और बातें, खास तौर पर उच्च शिक्षा के बारे में, विचारणीय हैं । पहली बात, स्नातकोत्तर महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के शिक्षक का प्रमुख कर्तव्य क्या है ? उच्च शिक्षा के ये दोनों ही संस्थान ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में दिन-प्रतिदिन हो रहे विस्तार-परिवर्तन पर नजर रखें, इसके लिए आवश्यक है कि इनके विभिन्न विभागों में कार्यरत शिक्षक शिक्षण के अतिरिक्त अनुसंधान कार्य में भी लगे रहें । अपने ज्ञान को अधुनातन जानकारियों से समृद्ध करते रहें । लेकिन देखा यह जाता है कि अधिकतर पाठ्यपुस्तकों में दिये तथ्यों से अधिक न तो वे जानने की कोशिश करते हैं और न अपने शिष्यों की इतर जानकारियों को प्रोत्साहन देते हैं । दूसरी ओर कुछ ऐसे शिक्षक भी देखे जा सकते हैं जो शोध के नाम पर इधर उधर की देसी विदेशी लेखकों की पुस्तकों से विचार, तथ्य व आंकड़े एकत्र कर पुस्तकें लिखने में लगे रहते हैं । उनका उद्देश्य नई जानकारियों से स्वयं को लैस करना या लोगों को अवगत करवाने के लिये पुस्तकें लिखना उतना नहीं होता जितना उससे पैसा कमाना या यश अर्जित करना होता है । उनका अधिकतर समय लेखन में, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनारों में, पत्रवाचन में या व्याख्यान आदि देने में ही गुजरता है । उनके छात्र उनका दर्शन तक करने को तरस जाते हैं । उनके नव-अर्जित ज्ञान का लाभ छात्रों को मिलने की बात तो सोची तक नहीं जा सकती । इसलिये जरूरी यह है कि जो संस्थान ऐसे शिक्षकों को शोध के लिये धन व अवसर प्रदान करता है, उसके छात्रों को उनके ज्ञान का लाभ सबसे पहले मिले और शिक्षण तथा शोध कार्य में परस्पर समन्वय हो ताकि ये दोनों कर्म एक दूसरे के पूरक बनें ।

दूसरी बात शिक्षकों की, खास तौर पर मानविकी से संबंधित विषयों के शिक्षकों की, रचनात्मकता से जुड़ी है। ऐसे शिक्षकों के सामने अपने विषयों से संबंधित अनेकों पुस्तकें होती हैं । वे उनमें से कुछ को पढ़ लेते हैं और कुछ के बारे में जान लेते हैं अथवा ऐसे नोट्स या सहायक पुस्तकें पढ़ लेते हैं जिनमें इनके सार होते हैं और छात्रों के सामने इनका उल्लेख कर अपने विस्तृत ज्ञान की छाप उन पर डालने या उन्हें आतंकित करने की कोशिश करते हैं। पर छात्रों पर कभी-कभी इसकी विपरीत प्रतिक्रिया भी होती है। वे सोचते हैं कि हमारे गुरूओं के पास अपना कुछ भी नहीं है । जो कुछ है सब इन पुस्तकों से लिया गया है । इसलिये जरूरी है कि शिक्षक अपने ज्ञान को इन साधनों से समृद्ध करने के साथ साथ अपनी सहमति, असहमति या सम्मति से टिप्पणी भी जोड़ें । छात्रों को इस तरह की विषय-वस्तु पर अपनी राय जाहिर करने के लिए प्रोत्साहित कर या प्रश्नोत्तर विधि अपनाकर भी शिक्षण में रचनात्मकता को समाविष्ट किया जा सकता है। इस तरह स्वविवेक से राय बनाने के अवसर तो मिलते ही हैं, कक्षाकक्ष का माहौल लोकतांत्रिक भी बनता है ।

तात्पर्य यह कि अब शिक्षक को सोचना होगा कि वह किस तरह की भूमिका को अपने लिए चुनना चाहता है? क्या वह अपने छात्रों के सामने बड़ी संख्या में पठनीय पुस्तकों की एक सूची रखकर यह दिखाना चाहता है कि उसने इतनी पुस्तकें पढ़ डाली हैं ? या फिर वह छात्रों में उत्सुकता जगाकर उन्हें अपनी ओर से सोचने/कहने के लिये तैयार करना चाहता है ? क्या वह उन्हें यह बताना चाहता है कि पुस्तकों में लिखी इस तरह की बातों के अलावा भी जीवन, संस्कृति व समाज को समझने के लिए व्यावहारिक ज्ञान की जरूरत होती है ? उसका चुनाव इस बात पर आधारित होना चाहिये कि कैसे वह अपने शिक्षण को सार्थक बनाये जिससे समाज में उसकी बढ़ती उपेक्षा कम हो सके । उसे समाज को यह बताना चाहिये कि वह शिक्षा को एक तुरंत फलदायी क्रिया के रूप में न देखे । साथ ही उसे स्वयं भी व्यावसायिक बनने के साथ मानवीय भी बने रहने की कोशिश करनी चाहिये । तेजी से बदलते सामाजिक परिदृश्य में न केवल अपना अस्तित्व बनाये रखने बल्कि स्वयं को उपयोगी एवं अपरिहार्य बनाये रखने के लिए उसे अब व्यावसायिक दक्षता और मानवीय सदगुणों से सुसज्जित होना जरूरी हो गया है । ◆